

॥ अथ षष्ठोऽध्यायः ॥

सुसंस्कारिता-संवर्द्धन प्रकरण

भावनानां विचाराणामाकांक्षानामथापि च।
गतिविधेरपि चौत्कृष्ट्यान्मानवोऽभ्येति प्रोन्नतिम् ॥ १ ॥
अग्रेचरित्रदृष्ट्या च वर्द्धते सोऽन्यथा त्विह।
पूर्वजन्मकुसंस्कारा जीवने प्रभवन्त्यलम् ॥ २ ॥
उदरपूर्तिताया वंशवृद्धिहेतोश्च केवलम्।
पशुचेष्टाभिलग्नत्वाद् व्यर्थतामेति जीवनम् ॥ ३ ॥
हेतुनाऽनेन सर्वेषां वर्तमानमथापि च।
भविष्यज्जायते नूनमंधकारमयं नृणाम् ॥ ४ ॥
ऋषेर्धौम्यस्य बुद्धौ च प्रसंगोऽद्यायमुत्थितः।
चिंतयामास सोऽजस्रं निवृत्ता ये कुटुंबतः ॥ ५ ॥
तेभ्यो विचारा देयास्तु लानैर्भाव्यं कथं च तैः।
चतुर्षु पुरुषार्थेषु सेवासत्संगयोरथ ॥ ६ ॥
स्वाध्याये साधनायां च धौम्यस्यैस्तत्तु चिंतनम्।
गतिशीलमभूद् द्वारं प्रगतेरपि सुंदरम् ॥ ७ ॥

टीका—भावना, विचारणा, आकांक्षा और गतिविधियों की उत्कृष्टता का समावेश करके ही मनुष्य ऊँचा उठता है और बढ़ता है, अन्यथा विगत योनियों के कुसंस्कार ही मनुष्य जीवन पर छाए रहते हैं। पेट प्रजनन की पशु प्रवृत्तियों में संलग्न रहकर मनुष्य जीवन निरर्थक जाता है। इस कारण वर्तमान और भविष्य भी अंधकारमय बनता है। धौम्य ऋषि के मस्तिष्क में आज यही प्रसंग छाया हुआ था। वे सोचते रहे कि परिवार से निवृत्त हुए अथवा परिवार की जिम्मेदारी से युक्त जनों को साधना, स्वाध्याय, सत्संग और सेवा के चार महापुरुषार्थों में किस प्रकार संलग्न होना चाहिए इसका परामर्श दिया जाए। महर्षि का चिंतन गतिशील था, वह प्रगति के भव्य द्वार की तरह प्रतीत होता था ॥ १-७ ॥

आत्मिक्याः प्रगतेर्हेतोर्नितान्तं सम्मतानि तु।

प्रयोजनानि चत्वारि गदितुं तु समागतान् ॥ ८ ॥

महर्षिर्निश्चिकायाथ प्रतिपाद्यमिदं जगौ।

संबोध्य जनतां धौम्य आह चैवं स पूर्ववत् ॥ ९ ॥

टीका—आत्मिक प्रगति के लिए नितांत आवश्यक इन चार प्रयोजनों को उपस्थित लोगों के गले उतारने का महर्षि ने निश्चय किया। यही आज के प्रवचन का विषय भी बनाया। जन समुदाय को संबोधित करते हुए, उन्होंने अपना वक्तव्य जारी रखा ॥ ८-९ ॥

जीवन की भावी दिशाधारा क्या हो, कैसे गृहस्थ जीवन में रहते हुए अथवा निवृत्ति के उपरांत स्वयं को आत्मिक प्रगति की दिशा में प्रवृत्त किया जा सके? यह ऊहापोह जनसाधारण के मन में होना स्वाभाविक है। आध्यात्मिक सिद्धांतों को सुग्राह्य बनाने एवं जीवन में उतारने की सही दिशा हेतु ही विद्वज्जन कथा-सत्संग का आश्रय लेते हैं। महर्षि धौम्य सुसंस्कारिता के जीवन में समावेश हेतु अनिवार्य चतुर्विध सोपानों, जीवन साधना, स्वाध्याय परायणता, सत्संग एवं सेवा-आराधना की व्याख्या प्रस्तुत प्रसंग में कर रहे हैं।

असंस्कृता नराश्चात्र समाजे बहवः सदा।

भवन्त्येव सुयोग्यानां दृश्यते न्यूनता तथा ॥ १० ॥

कतृणानि तु सर्वत्र प्राय एवोद्भवन्त्यलम्।

दुर्लभौषधयो गुण्याः क्वचनैव शुभे स्थले ॥ ११ ॥

भृशमन्वेषणादेव लभ्यन्ते कुत्रचिज्जनैः।

बहुसंख्यकवर्गेण सह संपर्ककारणात् ॥ १२ ॥

अविकासं गतास्वासु व्यक्तिषु प्रतिकूलगः।

प्रभावोऽवाञ्छनीयोऽपतत्येव निरंतरम् ॥ १३ ॥

प्रवाहे वहनं नृणां सरलं भवतीत्यतः।

कुटुंबगेषु मर्त्येषु समीपतरवर्तिनः ॥ १४ ॥

वातावरणकस्यै वा वाञ्छितः प्रपतत्यलम्।
प्रभावोऽस्मात्सुरक्ष्यं च संकटाद्धि कुटुंबकम् ॥ १५ ॥
अन्यथा तु निजादर्शप्रयासेषूत्तमेष्वपि।
व्याप्ता वातावृतिः स्वेषु गृहेषु प्रभविष्यति ॥ १६ ॥
तत्रत्यांश्च सदस्यान् सा पतनस्य तथैव च।
पराभूतेर्महागते नेष्यत्येव न संशयः ॥ १७ ॥

टीका—समाज में अनगढ़ लोग बहुत रहते हैं। सुयोग्यों की कमी पाई जाती है। घास-पात सर्वत्र उगते हैं, किंतु गुणकारी दुर्लभ औषधियाँ कहीं-कहीं ही उगती हैं और बहुत ढूँढ़ने पर कठिनाई से ही कहीं मिलती हैं। इस बहुमत के साथ प्रत्यक्ष संपर्क रहने से अविकसित व्यक्तियों पर प्रतिकूल अवांछनीय प्रभाव पड़ता है। प्रवाह में बहना सरल पड़ता है। इसलिए परिवार के लोगों में समीपवर्ती वातावरण की अवांछनीयताएँ घुस पड़ती हैं और बुरा प्रभाव डालती हैं। इस संकट से बचना आवश्यक है, अन्यथा निजी आदर्श और प्रयास उत्तम होने पर भी संव्याप्त वातावरण अपने घर को भी प्रभावित करेगा और उन्हें पतन के गर्त में घसीट लेगा, इसमें संदेह नहीं ॥ १०-१७ ॥

जन समुदाय श्रेष्ठ, निकृष्ट सभी स्तर के व्यक्तियों का समुच्चय है। यहाँ बाहुल्य सामान्यतया ऐसे ही व्यक्तियों का है, जो शिशुनोदर परायण होते हैं। जिनकी चिंतन परिधि सीमित होती है। इसके अतिरिक्त कमजोर मनःस्थिति वालों पर उनके अधोगामी चिंतन का प्रभाव भी सतत् पड़ता रहता है। प्रचलन में सामान्यतया निकृष्टता संव्याप्त है। पतन का मार्ग आकर्षक होने के कारण सबको सरल दिखाई भी पड़ता है। स्वयं के विवेक का प्रयोग न कर पाने की स्थिति में प्रवाह में बहने लगना स्वाभाविक है। परिवार संस्था पर यह तथ्य विशेष रूप से लागू होता है। दुष्प्रवृत्तियों के प्रभाव से परिवार के सदस्य अपने सुसंस्कारों को भुलाकर गलत दिशा में न चल पड़ें, इसके लिए अनिवार्य है कि परिवार के प्रमुख एवं अन्य सभी वरिष्ठजन उत्कृष्टता का वातावरण बनाए रखने का प्रयास करते हैं। इस ओर उपेक्षा बरतने से स्वयं के सही होने पर भी परिवार के अन्य सदस्यों को अप्रभावित नहीं रहने दिया जा सकता। अतः स्वयं को सुधारने, ऊँचा उठाने के साथ-साथ ऐसा वातावरण बनाया जाना भी जरूरी है, जहाँ सत्प्रवृत्तियाँ स्वयं पनपें, जिनके कारण अधोगामी प्रवृत्तियाँ अपना असर किसी की मनःस्थिति पर डाल न पाएँ। परिवार में धार्मिकता-आस्तिकता का वह वातावरण बनाया जाना चाहिए जिसमें परिवार के सदस्यों को सुसंस्कारिता का पोषण मिल सके। इसके लिए परिवार में कुछ सत्प्रवृत्तियों को विकसित और प्रचलन करने के लिए प्रयास किया जाना चाहिए। इस तरह की सत्प्रवृत्तियों में पाँच प्रमुख हैं, जिन्हें

पंचशील कहा गया है।

वातावृतिस्तथाऽऽस्तिक्यभावनाया भवेदपि।
परिवारेषु सर्वेषु तथैवाराधना प्रभोः ॥ १८ ॥
उपासना च संयुक्ता भवेच्च नित्यकर्मणि।
निश्चेतव्योऽपि कालश्च कथाकीर्तनयोः कृते ॥ १९ ॥
बाधा वक्तुं निजाः सर्वा अन्येषां च परिस्थितीः।
ज्ञातुं च समयः सर्वैः लभ्येतेति विचिन्त्यताम् ॥ २० ॥
आदानं च प्रदानं च विचाराणां हि दैनिकम्।
यत्र स्यान्न भवेत्तत्र मनोमालिन्यमण्वपि ॥ २१ ॥
प्रायस्ते कलहा भ्रांतेः कारणादुद्भवन्त्यतः।
अनिष्टमेतदुत्पन्नमात्रं सर्वैर्निवार्यताम् ॥ २२ ॥
न वर्द्धन्ते ततस्ते च गोष्ठ्यस्तस्मान्नरैः समैः।
प्रतिसप्ताहमेवात्र कर्त्तव्या हितकारिणी ॥ २३ ॥
स्वाध्यायार्थं गृहस्यैव पुस्तकालय एव तु।
भवेद् येन सुसाहित्यं जीवनस्योपयोगि तत् ॥ २४ ॥
प्रत्येकेन सदस्येन लब्धुं शक्येत वाऽञ्जसा।
उपासना - गृहास्तत्र पुस्तकालय एव च ॥ २५ ॥
प्रत्येकस्य गृहस्थस्य कृते त्वावश्यकं मतम्।
गृहेषु येषु नैतानि दुर्भाग्येन युतास्तु ते ॥ २६ ॥

टीका—हर परिवार में आस्तिकता का वातावरण रहे। उपासना-आराधना को नित्यकर्म में सम्मिलित रखा जाए। कथा-कीर्तन, पारिवारिक गोष्ठियों के लिए कोई नियत समय रहे। सभी को अपनी अड़चनें कहने और दूसरों की परिस्थितियों को समझने का अवसर मिले। जहाँ विचार-विनिमय चलता रहता है, वहाँ मनोमालिन्य नहीं पनपता। भ्रांतियों के कारण ही अधिकांश कलह विग्रह खड़े होते हैं। ऐसी अवांछनीयताओं को पनपते ही रोका-टोका जाए, तो वे बढ़ने नहीं पातीं। इस प्रयोजन के लिए सप्ताह में एक बार विचार गोष्ठियों का क्रम चलता रहे। स्वाध्याय के लिए घरेलू पुस्तकालय रहें, जिससे जीवनोपयोगी साहित्य हर सदस्य को पढ़ने या सुनने के लिए उपलब्ध हो सके। उपासना गृह और पुस्तक मंदिर प्रत्येक सद्गृहस्थ की महती आवश्यकताएँ हैं। जिस घर में ये न हों, उसे दुर्भाग्यग्रस्त ही कहा जाएगा ॥ १८-२६ ॥

सत्प्रवृत्तियों को स्थान मिले, इसके लिए अनिवार्य है कि ऐसा वातावरण पारिवारिक परिसर में बनाया जाए कि अधोगामी प्रवृत्तियाँ अपने पैर ही न जमा सकें। देव संस्कृति की कुछ अभूतपूर्व देन अपने देश भारत वर्ष को मिली है, जिन्हें अमूल्य थाती समझा जा सकता है। कथा-सत्संग, उपासना एवं जीवन साधना, स्वाध्याय शीलता एवं पारस्परिक विचार विनिमय द्वारा अपनी गुत्थियों एवं भ्रांतियों का निवारण ये कुछ ऐसे अवलंबन हैं, जिनकी आवश्यकता किसी न किसी रूप में हर परिवार को, परिवार के हर सदस्य को है।

३.४४ प्रज्ञोपनिषद्

सुसंस्कारिता उपार्जन हेतु इन्हें वरीयता दी जानी चाहिए। आज के आधुनिकता प्रधान युग में तो इनकी महत्ता और भी अधिक बढ़ गई है।

परिवार संस्था में विभिन्न आयु एवं चिंतन के सदस्य होते हैं। उनके सोचने की शैली अलग-अलग हो सकती है, किंतु इससे अनावश्यक वाद-विवाद अथवा विग्रह न खड़ा हो, इसके लिए पारिवारिक गोष्ठियों का, सप्ताह में किसी दिन किसी समय, सुविधानुसार आयोजन होता रहे, ताकि सबको खुलकर कहने का अवसर मिल सके। इससे एक-दूसरे के प्रति किसी प्रकार की दुर्भावना को विकसित होने जैसे विषवृक्ष पनपने नहीं पाएगा।

स्वाध्याय में प्रमाद न बरता जाए, यह शास्त्र वचन है। नित्य प्रति के कुसंस्कार जो प्रभाव हमारे चिंतन पर डालते हैं उन्हें श्रेष्ठ पुस्तकों, विचारों के साहचर्य से मिटाकर सोचने की शैली परिमार्जित की जा सकती है। साथ ही इसमें ज्ञानवृद्धि का सुयोग तो है ही। कषाय-कल्मषों के परिशोधन हेतु ऐसी ही उपयोगिता उपासना गृह की भी है। चाहे व्यक्ति किसी भी धर्म, संप्रदाय का हो साकार अथवा निराकार उपासना को मानने वाला हो, वह पारिवारिक जनों में आस्तिकता के बीजांकुर रोपने हेतु उपासना स्थलों की सहायता लेता रह सकता है।

यथा शरीरवस्त्रोपकरणानामथापि च।

पात्राणां भवनादेश्च स्वच्छता दैनिकी मता ॥ २७ ॥

सदस्यानां कुटुंबस्य हृदयेषु चराण्यपि।

मालिन्यादीनि नित्यं हि विनाश्यानि शुभेक्षणे ॥ २७ ॥

तेषां स्थाने सुसंस्कारान् स्थापयेदीदृशांस्तु ये।

व्यवहारेषु प्रत्यक्षं दृश्यंते क्वचिदेव तु ॥ २९ ॥

कहिंचित्तु परं पृष्ठेष्वितिहासस्य वा पुनः।

पुराणस्य च विद्यंते गाथाः स्वर्णाक्षरांकिता ॥ ३० ॥

टीका—जिस प्रकार शरीर, वस्त्र, बरतन, उपकरण, मकान, फर्श आदि की नित्य सफाई की जाती है, उसी प्रकार परिवार के सदस्यों के मनों पर जमने वाले नित्य के छाए गुबार की दैनिक सफाई ठीक समय पर होनी चाहिए। उसके स्थान पर ऐसे सुसंस्कार बोए जाने चाहिए, जो प्रचलन में प्रत्यक्ष तो कभी-कभी कहीं-कहीं ही दीखते हैं, किंतु इतिहास-पुराणों के पृष्ठ उनकी कथा-गाथाओं के स्वर्णाक्षरों से भरे पड़े हैं ॥ २७-३० ॥

अंतःकरण की निर्मलता ही व्यक्ति को ऊँचा उठाती है। बाहर से कोई कैसा भी दीखे इससे क्या, मन साफ होना चाहिए। वातावरण के प्रभाव से कुसंस्कार अपनी प्रतिक्रिया निश्चित ही दिखाते हैं। इनकी नित्य प्रतिदिन सफाई होनी चाहिए एवं पवित्र श्रेष्ठ संस्कारों का बीजारोपण हो, इसके

लिए परोक्ष रूप से प्रेरणाप्रद उदाहरणों को सामने रख उनसे शिक्षा ली जानी चाहिए। इसके लिए स्वयं को परिष्कृत करना पड़ता है। गलने के लिए सतत् तत्पर रहना होता है।

आदर्शानां प्रतिष्ठा तु गृहेष्वावश्यकी मता।

उपायः सरलश्चात्रादर्शवादि नृणां समे ॥ ३१ ॥

श्रावयंतु जनान् स्वांस्तु चरितानि महांति हि।

यान्नराननुकर्तुं च नीतिरस्माभिरिष्यते ॥ ३२ ॥

एतदर्थं च सर्वेषु पूजास्थाने गृहेषु तु।

भवेदेवाप्यलंकारमञ्जुषेव गृहस्य सः ॥ ३३ ॥

पुस्तकालय एकस्तु यमाश्रित्य च शिक्षिताः।

आप्तवाक्यानि जानंतु श्रावयंत्यप्यशिक्षितान् ॥ ३४ ॥

वस्त्राणां खाद्यवस्तूनां दैनिकी साऽनिवार्यता।

भवत्यपेक्षितैव हि ज्ञानस्याऽस्मिन् हि मंदिरे ॥ ३५ ॥

नित्यं सम्मिलितं तत्स्यात् साहित्यमुत्तमं मता।

जीवनस्य विकासाय स्वाध्यायस्यानिवार्यता ॥ ३६ ॥

अस्याः पूर्त्यै स्थापना स्याद् गृहेष्वत्र समेष्वपि।

ज्ञानमंदिरसंज्ञानां पुस्तकालयरूपिणाम् ॥ ३७ ॥

टीका—घर में आदर्शों की प्रतिष्ठापना आवश्यक समझी जानी चाहिए और इसके लिए उपाय सरल यही है कि उन आदर्शवादी महामानवों की चरित्र गाथाएँ परिजनों के सामने प्रस्तुत की जा सकें, जिनके अनुकरण करने की बात सोची और रीति-नीति अपनाई जा सके। इस हेतु हर घर में पूजा स्थान, आभूषण रखने की पिटारी की भाँति ही एक घरेलू पुस्तकालय होना चाहिए, जिसके सहारे घर के शिक्षितों को, आप्तजनों के परामर्श से पढ़ने तथा अशिक्षितों को सुनाने के लिए मिलते रहें। जिस प्रकार वस्त्रों की खाद्य पदार्थों की आवश्यकता आए दिन पड़ती है, इसी प्रकार के ज्ञान मंदिर कक्ष में भी नित्य सत्साहित्य सम्मिलित किया जाना चाहिए। स्वाध्याय जीवन विकास की महती आवश्यकता है। इसकी पूर्ति में घरेलू ज्ञान मंदिरों की स्थापना होनी चाहिए ॥ ३१-३७ ॥

यहाँ पुरुषों की जीवन गाथाएँ आदर्शों के व्यावहारिक शिक्षण के लिए सर्वोत्तम हैं। उन्होंने जीवन में किस तरह कठिनाइयों के बीच से निकलते हुए विभिन्न परिस्थितियों का साहस से मुकाबला किया, किस तरह से प्रखरता अर्जित करते हुए वे वर्तमान स्थिति तक पहुँच पाए, इतिहास में यश-कीर्ति पा सके? यह घटनाओं के माध्यम से भली-भाँति हृदयगम किया जा सकता है। हमारे दैनंदिन जीवन में जिस तरह शरीर को जीवित बनाए रखने के लिए खाद्य की आवश्यकता पड़ती है, उसी प्रकार मानसिक आहार के रूप में सत्साहित्य की व्यवस्था यदि होती चले, तो समग्र विकास संभव है। श्रेष्ठ विचारों की आवश्यकता को आत्मिक प्रगति

के लिए भली-भाँति समझते हुए हर घर परिवार में ऐसे शिक्षण की व्यवस्था की जा सकती है, हर परिजन में सत्साहित्य के प्रति रुचि जगाई जा सकती है।

कौटुंबिकाय नित्यं च सत्संगाय भवेदपि।

शुभः कथा प्रसंगस्तु शुभसंस्कारदायकः ॥ ३८ ॥

कथा श्रोतुं समाना वै रुचिः पुसां भवत्यलम्।

बालानामथवृद्धानां नारीणामथवा नृणाम् ॥ ३९ ॥

व्यवस्थायाञ्च जातायामस्यामत्र भवत्यलम्।

मनोरञ्जनमस्त्येव कुटुंबस्य प्रशिक्षणम् ॥ ४० ॥

दुश्चिंतन परित्यागसद्विचारग्रहस्य च।

शिक्षा प्रत्यक्षतो नैव लोके रुचिकरा नृणाम् ॥ ४१ ॥

अत्र तेऽनुभवन्त्येव स्वापमानमिवाथ च।

अहंत्वात्सत्परामर्श श्रोतुंस्वस्मिंश्च तुच्छताम् ॥ ४२ ॥

अनुभवन्ति न सज्जन्ते तच्छ्रोतुं बोद्धुमेव वा।

लाभदातः परोक्षेण शिक्षा साऽऽदर्शवादिनी ॥ ४३ ॥

टीका—पारिवारिक सत्संग के लिए घर में नित्य का शुभ संस्कारमयी कथा-प्रसंग चलना चाहिए। कथा कहने-सुनने में बाल-वृद्ध, नर-नारी सभी को समान रूप से अभिरुचि होती है। इसकी व्यवस्था चल पड़ने पर उपयोगी मनोरंजन भी होता है। इसकी व्यवस्था चल पड़ने पर उपयोगी मनोरंजन भी होता है और प्रशिक्षण का सुयोग भी बनता है। दुश्चिंता न छोड़ने और सद्विचार अपनाने की प्रत्यक्ष शिक्षा लोगों को सामान्यतया रुचती नहीं। इसमें वे अपना अपमान अनुभव करते हैं। अहंकारवश वे सत्परामर्श सुनने में अपनी हेठी मानते हैं, उन्हें सुनने-समझने तक को तैयार नहीं होते। इसलिए आदर्शवादी शिक्षा को कथा-प्रसंगों के माध्यम से परोक्ष रूप से देने में ही लाभ है ॥ ३८-४३ ॥

सत्संग ज्ञान गोष्ठी का सबसे अच्छा स्वरूप है कथानकों दृष्टांतों के माध्यम से सुसंस्कारों का शिक्षण। इसके दो लाभ हैं। सुरुचिपूर्ण एवं सुग्राह्य होने के कारण वे नीरसता न पैदा कर स्वस्थ मनोरंजन भी करते हैं, साथ ही परोक्ष रूप से शुभ प्रेरणाएँ भी देते हैं। किसी को सुधारने के लिए सीधे कोई नैतिक शिक्षा न देकर, उसके अहं को चोट पहुँचाए बिना, उसी बात को कथा-प्रसंगों के माध्यम से कह दिया जाए। यह शैली शिष्टाचार की दृष्टि से भी उचित है एवं देव संस्कृति की परंपरा का एक अंग होने के कारण सबको अनुकूल पड़ती है। सत्संग भी महापुरुषों का ही होना चाहिए अथवा उसकी पूर्ति सत्साहित्य के माध्यम से की जानी चाहिए, अन्यथा तथाकथित नाम वेशधारी बाबाओं, कुचालियों और वाक् जंजाल में उलझने वाले व्यक्तियों का सत्संग तो उलझन और भ्रम ही पैदा करते हैं। ज्ञानार्जन के लिए सत्प्रवृत्ति संवर्द्धन के लिए कथा-प्रसंगों का स्वाध्याय, श्रवण-मनन

सबके लिए सर्वसुलभ पड़ता है। ज्ञान प्राप्त करने के लिए वर्ग एवं आयु का कोई निर्धारण नहीं, वह सबके लिए समान है।

गोलिकाऽप्यञ्जसा कट्वी निगीर्या शर्करावृता।

भवत्येव कथास्वत्र मनोरञ्जनमप्यलम् ॥ ४४ ॥

प्रशिक्षणं परोक्षेण भवत्यपि सुयोजितम्।

अनुभवाच्छिक्षितं लोकैर्व्यक्तित्वोत्कृष्टताविधेः ॥ ४५ ॥

कृते नैवास्ति कोऽप्यत्र सरलो विधिरुत्तमः।

प्रभावयुक्तो वा नूनमृते योग्य - कथाविधिम् ॥ ४६ ॥

कारणं चेदमेवास्ति सूत-शौनकयोर्मुखात्।

अष्टादशपुराणानि ख्यातान्युपपुराणकैः ॥ ४७ ॥

यथा ताश्च भवन्त्येवं जनास्ताः प्रभवन्त्यपि।

अज्ञातायां दिशायां च वहन्त्यत्र बलादिव ॥ ४८ ॥

टीका—कटुवी गोली को चीनी में लपेटकर देने से, उसे आसानी से गले उतार लिया जाता है। कथाओं में रोचक मनोरंजन भी होता है और परोक्ष प्रशिक्षण भी। इसलिए अनुभव ने यह सिखाया है कि व्यक्तित्व में उत्कृष्टता का समावेश करने के लिए उपयुक्त कथा-प्रसंगों से बढ़कर और कोई सरल एवं प्रभावी तरीका नहीं है। यही कारण है कि सूत-शौनक के मुख से अठारह पुराण और अठारह उपपुराण कहलाए गए। वे कथाएँ जैसी भी भली-बुरी होती हैं, दर्शकों पर वैसा प्रभाव भी निश्चित रूप से डालती हैं और व्यक्ति अज्ञात दिशा की ओर अनचाहे भी जबरदस्ती बहने लगता है ॥ ४४-४८ ॥

सुसंस्कारों का उपार्जन, अभिवर्द्धन एक समय-साध्य कष्टकर प्रक्रिया है। ढर्रे को तोड़कर सत्प्रवृत्तियाँ अपनाना कोई सरल काम नहीं। इसी कारण आर्ष साहित्य के माध्यम से ऋषिगणों ने कथा-प्रसंगों पर अत्यधिक जोर दिया। इससे जटिल आध्यात्मिक प्रतिपादन भी जन साधारण के गले उतरते चले गए। १८ पुराण, १८ उपपुराण, पंचतंत्र की कथाएँ, ईसप की कथाएँ इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। पुरातन काल में ज्ञान संगम के रूप में विचार गोष्ठियाँ कथानकों के माध्यम से ही चलती थीं। इनका प्रभाव परोक्ष रूप से सुनने अथवा पढ़ने वालों पर अवश्य पड़ता है, इसलिए विचार परिवर्तन हेतु कथानकों का आश्रय लिया ही जाना चाहिए।

प्रज्ञापुराणमस्माच्च कथाग्रंथानुरूपगः ।

कालिकीनां स्थितीनां मार्गदर्शक उत्तमः ॥ ४९ ॥

अस्य चाख्यायिकास्तस्मादैतिह्यादिकमप्यलम्।

गृहेषु वक्तुं युज्यन्ते यथा मातामही कथाः ॥ ५० ॥

वयोवृद्धास्तु शृण्वन्ति श्रीमद्भागवतं तथा।

रामायणादिकं यच्च युवभ्योऽपि हि रोचते ॥ ५१ ॥

व्यस्ता अपि च तच्छ्रोतुं पठितुं चोत्सुकाश्च ते।

३.४६ प्रज्ञोपनिषद्

परिवारस्तरं कर्तुमुच्चगं तस्य तेषु च ॥५२॥

सदस्येषु विधातुं च शालीन्योदयमुत्तमम्।

क्रमः कथाप्रसंगानामत्र स नियमोभवेत् ॥५३॥

प्रभवेद्दैनिकोऽभ्यासो जीवनं कर्तुमुन्नतम्।

दैनिकक्रममस्माच्च न कदाचित्परित्यजेत् ॥५४॥

टीका—प्रज्ञापुराण सामयिक परिस्थितियों के अनुरूप मार्गदर्शन करने हेतु अत्यंत उपयोगी कथाग्रंथ है। इसकी कहानियाँ इसमें दिया गया इतिहास आदि घरों में उसी प्रकार कहा जाना चाहिए, जैसा कि छोटे बच्चों को नानी की कहानियाँ सुनाई जाती हैं। वयोवृद्ध रामायण, भागवत आदि की पुराणकथा पढ़ते-सुनते रहते हैं। युवा वर्ग को भी वे कम पसंद हों ऐसी बात नहीं, व्यस्त रहते हुए भी वे उन्हें पढ़ने-सुनने के लिए उत्सुक रहते हैं। परिवार का स्तर ऊँचा उठाने के लिए उसके सदस्यों में अधिक शालीनता का समावेश करने के लिए नियमित कथा-प्रसंगों का प्रवचन होना चाहिए। दैनिक अभ्यास ही जीवन को उन्नत बना सकता है, इसीलिए दैनिक कार्यक्रमों को कभी छोड़ना नहीं चाहिए ॥ ४९-५४ ॥

परिवार संस्था में अच्छे संस्कारों का समावेश हो, नैतिक स्तर बने, इसके लिए अनिवार्य है कि कथा प्रसंगों को, जिनमें सामान्यतया सभी रुचि लेते हैं, नियमित रूप से परिवार में कहा जाता रहे। इससे बहिरंग जीवन की समस्याओं के हल निकालने एवं मनःस्थिति के परिमार्जन करने का पथ सतत् प्रशस्त होता चलेगा।

बालकेभ्योऽभिरोचन्ते पशुपक्षिकथास्तथा।

परलोकाप्सरश्चर्चा उत्तुकास्ते कुतूहलम् ॥५५॥

श्रोतुं मनोविकासाय युवभ्यः प्राय एव च।

सप्ताहसाः समाधात्र्यः कथाः रोचन्ते उन्नताः ॥५६॥

वृद्धेभ्य ऋषि संबद्धा देवताचरितानुगाः।

धर्मप्रयोजना नूनं रोचन्ते च प्रसंगकाः ॥५७॥

कथाश्चेमाः परोक्षेण रोचन्ते त्रिभ्य एव च।

श्रवणेऽस्मिंश्च पुण्यं तन्मनोरञ्जनमप्यलम् ॥५८॥

चिंतनस्य चरित्रस्य व्यवहारस्यापि शोधनम्।

प्रशिक्षणं परिष्कारकारकं यदवाप्यते ॥५९॥

अस्मिन्ननुभवेनैव कोऽपि स्वस्मिन् कदाचन।

कटाक्षादिकमेतस्या बाधा नास्त्यपमानजा ॥६०॥

बोधोऽप्ययं भवत्येव परिस्थितिषु च कासु च।

किं कार्यं पुरुषैरत्र विपद्भ्यो रक्षितुं स्वयम् ॥६१॥

कथ भाव्यं सतर्कैश्चाऽवाञ्छितेभ्यः कथं तथा।

दूरैर्भाव्यं तथात्मा च रक्षणीयः सदा नरैः ॥६२॥

टीका—बच्चों को पशु-पक्षियों की परीलोक की कथाएँ अधिक रुचिकर होती हैं। उनका मानसिक विकास कौतूहल सुनने के लिए उत्सुक रहता है। युवकों और प्रौढ़ों को अनुभव

साहस प्रदान करने वाली, समस्याएँ सुलझाने और ऊँचा उठाने वाली कथाएँ अधिक सुहाती हैं। वृद्धों को ऋषियों, देवताओं, धर्मप्रयोजनों से संबंधित प्रसंग रुचते हैं। ये कथा प्रसंग परोक्ष रूप से उपरोक्त तीनों ही वर्गों को सुहाते हैं। इस श्रवण में पुण्य भी माना जाता है, मनोरंजन भी होता है और सबसे बड़ा लाभ परोक्ष रूप से चिंतन, चरित्र और व्यवहार को परिष्कृत करने वाला प्रशिक्षण मिलते रहने के रूप में हस्तगत होता रहता है। इनमें किसी को अपने ऊपर कटाक्ष व्यंग्य होने तथा अपमान होने जैसी अड़चन भी नहीं पड़ती और यह भी बोध होता रहता है कि किन परिस्थितियों में क्या करना चाहिए, विपत्तियों से बचने के लिए किस प्रकार सतर्क रहना चाहिए, किन अवांछनीयताओं से किस प्रकार दूर रहना और कैसे पीछा छुड़ाना चाहिए? ॥ ५५-६२ ॥

कथा साहित्य किस वय के लिए कैसा हो, यह बहुत कुछ मानवी मनोविज्ञान पर निर्भर है। लक्ष्य सभी वर्गों की दृष्टि से एक ही रहता है, अप्रत्यक्ष रूप से उनके गुण, कर्म, स्वभाव को बदलने योग्य मनःस्थिति बनाना। व्यक्ति के अचेतन को स्पर्श कर वे उसे उद्बलित कर हर परिस्थिति के लिए समाधान निकालने की समझ विकसित करते हैं। यह संसार विभिन्न प्रकार के प्रपंचों प्रतिकूलताओं से भरा है। जीवन जीने की सही दिशा मूल मिल सके, कथानकों में यही मूल उद्देश्य सन्निहित होता है। बालकों को उनकी जिज्ञासा का समाधान करने वाली अंतर्बुद्धि को विकसित करने वाली मध्य वर्ग की वय वालों को जोश दिलाने वाली सप्ताहस की प्रेरणा देने वाली, व्यावहारिक जीवन की दैनंदिन समस्याओं का समाधान बताने वाली तथा ढलती आयु वाले वृद्धजनों को धर्मदर्शन, जीवन के मूल उद्देश्य, समाज, आराधना जैसे विषयों पर प्रकाश डालने वाली कथाएँ सुनाई जानी चाहिए। यह चयन न केवल आयु विभाजन की दृष्टि से अपितु उनके मानसिक विकास एवं अभिरुचि को देखते हुए उपयुक्त हैं।

बच्चों के लिए वे ही कथानक चुने जाएँ, जो उनका मनोरंजन तो करें ही, उन्हें सद्गुण अपनाने हेतु प्रेरणा भी दें। यह घटनाक्रमों के माध्यम से भी समझाया जा सकता है एवं जीव-जंतुओं, प्रकृति के अन्यान्य घटकों को माध्यम बनाकर भी।

कथानकेषु चैतेषु नरोन्नतिकराणि च।

श्रेष्ठानामिह नृणां च तान्युदाहरणानि तु ॥६३॥

इत्थं बुद्धौ तु चेष्टन्ते प्रत्यक्षं सम्मुखे समे।

तिष्ठन्त इव कृत्यं स्वमुपदेशं दिशन्ति नः ॥६४॥

परिवाराय चाऽस्माभिर्यथा स क्रियते व्ययः।

दीयते समयोऽथापि क्रियते श्रम उत्तमः ॥६५॥

तथैवेयं व्यवस्थाऽपि भवेदेव मिलेदयम्।

सत्संगावसरो नूनं परिजनस्य कृते सदा ॥ ६६ ॥

ज्ञानमंदिररूपाच्च स्वाध्यायः पुस्तकालयात् ।

कथाप्रसंगात्सत्संगो लाभरूपेण सम्मतौ ॥ ६७ ॥

यावदस्य कुटुंबस्य स्तर उन्नतिमाव्रजेत् ।

आशास्यते समैर्योग्यकर्मैतत्कार्यमेव तु ॥ ६८ ॥

टीका—इन कथानकों में ऊँचा उठने वाले, आगे बढ़ने वाले श्रेष्ठ व्यक्तियों के उदाहरण इस प्रकार मस्तिष्क में घूमने लगते हैं, मानो वे सामने ही बैठे और अपना क्रियाकृत्य अनुभव एवं उपदेश हमें प्रस्तुत कर रहे हों। परिवार के लिए जिस प्रकार बहुत खर्च किया जाता है, समय दिया और श्रम किया जाता है, उसी प्रकार यह व्यवस्था भी होनी चाहिए कि परिजनों को स्वाध्याय एवं सत्संग का अवसर मिलता रहे। ज्ञान मंदिर पुस्तकालय से स्वाध्याय का और कथा-प्रसंग से सत्संग का लाभ मिलते रहने पर परिवार का स्तर हर दृष्टि से समुन्नत होने की आशा बँधती है। इसलिए यह कदम उठाए ही जाने योग्य हैं ॥ ६३-६८ ॥

कथानकों का, जीवन चरित्र प्रसंगों का, सबसे बड़ा लाभ यह है कि जिन महापुरुषों के हमें अब दर्शन नहीं हो सकते, उनसे स्वाध्याय के माध्यम से प्रत्यक्ष भेंट का प्रयोजन सध जाता है। यह एक प्रकार से परोक्ष सत्संग है। उनके विचार सत्साहित्य के पढ़ने-सुनने से ही हमें मिलते हैं, जो प्रगति की दिशा में बढ़ने की दिशा धारा देते हैं। परिवार के सदस्यों का जीवन स्तर ऊँचा उठाने प्रगति पथ पर द्रुतगामी से आगे बढ़ाने के लिए महापुरुषों का प्रत्यक्ष या परोक्ष मार्गदर्शन आवश्यक है। परोक्ष मार्गदर्शन घरेलू ज्ञान मंदिर पुस्तकालय से सहज सुलभ हो सकता है। इसके लिए परिवार के प्रत्येक सदस्य को स्वाध्याय के प्रति रुचि जाग्रत करनी चाहिए।

सत्साहित्य का स्वाध्याय मात्र बौद्धिक विकास के लिए ही नहीं, आत्मिक विकास के लिए भी आवश्यक है। योग साधना में भी स्वाध्याय साधना को एक अभिन्न अंग माना गया है। वह शौच, संतोष, तप एवं ईश्वराधना इन चार के समान महत्वपूर्ण पाँचवाँ नियम है। आस्थाओं के अभिवर्द्धन एवं दृढ़ीकरण तथा चरित्र निर्माण के लिए स्वाध्याय अनिवार्य है।

धौम्य उवाच—

सुसंस्कृतं कुटुम्बं यद् भवितुं वाञ्छति स्वयम् ।

स्वाध्यायस्य प्रकर्तव्या सत्संगस्य व्यवस्थितिः ॥ ६९ ॥

तेन तस्मिन् कुटुम्बे च भोजनस्येव सम्मतम् ।

नित्यकर्मैव चेदं तु नृणामावश्यकं परम् ॥ ७० ॥

अस्मान्युने कुसंस्कारनिवृत्तिर्नैव संभवा ।

साधनाऽऽत्मन आहारस्तं बिना महता नहि ॥ ७१ ॥

टीका—धौम्य पुनः बोले, सुसंस्कृत बनने के इच्छुक प्रत्येक परिवार में स्वाध्याय और सत्संग की नियमित व्यवस्था होनी चाहिए। उन्हें भोजन, शयन की तरह आवश्यक नित्यकर्म माना जाना चाहिए। इससे कम में कुसंस्कारों से निवृत्ति किसी को भी नहीं मिल सकती। साधना आत्मा का आहार है। उसके बिना क्षुद्र को महान् के साथ जुड़ने का सुयोग ही नहीं बनता ॥ ६९-७१ ॥

महर्षि धौम्य यहाँ सुसंस्कारिता उपार्जन का महत्त्व समझाते हुए पुनः ज्ञानार्जन को सत्साहित्य के पठन-मनन एवं सत्पुरुषों श्रेष्ठ वातावरण के सत्संग पर जोर देते हैं। ये दोनों ही ऐसे नहीं हैं कि इन्हें ऐच्छिक मानकर जीवन में जब अवकाश मिले, तब के लिए छोड़ दिया जाए। यह तो नित्य प्रति के जीवन में समावेश की जाने वाली गुण संपदाएँ हैं, जो व्यक्ति को सुसंस्कृत बनाती, पारस के स्पर्श से लोहे को स्वर्ण बनाने के समान उसे श्रेष्ठता की पराकाष्ठा पर ले जाती हैं। वास्तविक ज्ञान पाकर ही अंधकार से प्रकाश की ओर, असत्य से सत्य की ओर, अशांति से शांति की ओर और स्वार्थ से परमार्थ की ओर उन्मुख होता है।

इसी प्रकार अज्ञान के निवारण आत्मसत्ता को समष्टि में संव्याप्त परमात्म सत्ता से एकाकार करने हेतु साधना को भी जीवन में अति महत्वपूर्ण स्थान मिलना चाहिए। अनगढ़ को सुगढ़ बनाने हेतु साधना का अवलंबन अत्यंत अनिवार्य है। वह अज्ञान मिटाए बिना संभव नहीं। स्वाध्याय, सत्संग एवं चिंतन-मनन की त्रिपदा साधना ही उस ज्ञान की सिद्धि का सहज उपाय है।

साधनाभिः कुटुम्बे च भवेद् वातावृत्तिः शुभा ।

आस्तिक्यभावसंपन्ना धर्मश्रद्धास्थितेः समा ॥ ७२ ॥

भावना मान्यता नृणामाकांक्षा गतयश्च ताः ।

अधोगा नैव जायंते तस्मादत्र गृहे गृहे ॥ ७३ ॥

युगशक्तैराद्यशक्तेः प्रतिमा स्थापिता भवेत् ।

महाप्रज्ञाभिधायास्तु गायत्र्याश्छविरेव वा ॥ ७४ ॥

भोजनात्पूर्वमेवात्र सदस्याश्च समेऽपि चेत् ।

नमनं वन्दनं कुर्युर्जपं ध्यानमथाऽपि च ॥ ७५ ॥

स्वल्पेऽपि समये सा वै साधनाऽप्यल्परूपिणी ।

भावनात्मकशुद्ध्यर्थं सिद्ध्यत्येव सहायिका ॥ ७६ ॥

टीका—साधना द्वारा परिवार में आस्तिकता का वातावरण बनना चाहिए। धर्म श्रद्धा बनी रहने से व्यक्ति की भावनाएँ, मान्यताएँ, आकांक्षाएँ एवं गतिविधियाँ अधोगामी नहीं बनने पातीं। इस हेतु हर घर में आद्यशक्ति, युगशक्ति, महाप्रज्ञा गायत्री की प्रतिमा अथवा छवि की स्थापना रहनी चाहिए। भोजन से पूर्व सभी उसका नमन-वंदन तथा जप ध्यान थोड़े समय भी कर लिया करें, तो वह स्वल्प साधना भी भावनात्मक

३.४८ प्रज्ञोपनिषद्

पवित्रता बनाए रहने में बहुत सहायक सिद्ध होती है ॥ ७२-७६ ॥

संस्कारयुक्त वातावरण हर परिवार में बना रहे, इसके लिए उनकी आस्तिकता को जीवंत बनाए रखने के लिए उपयुक्त पोषण और मार्गदर्शन मिलता रहना चाहिए।

आस्तिकता ईश्वर विश्वास मनुष्य पर एक ऐसा अंकुश है, जिसमें उसे दुष्कर्मों का प्रतिफल देर-सवेर से मिलने का भय बना रहता है। साथ ही यह भी निश्चय रहता है कि नियामक सत्ता आज नहीं तो कल परसों सत्कर्मों का परिणाम प्रदान करेगी। भले-बुरे कर्मों का तत्काल फल न मिलते देखकर लोगों का मन कर्मफल के बारे में अनिश्चित हो जाता है, फलतः न तो दुष्कर्मों से डरते हैं और न सत्कर्मों के संबंध में उत्साहित होते हैं। ईश्वर के अस्तित्व और उसके कर्मफल विधान की निश्चितता पर विश्वास दिलाना आस्तिकता का प्रथम उद्देश्य है। सच्चे आस्तिक की चरित्रनिष्ठा डगमगाने नहीं पाती।

उपासना का लक्ष्य है ईश्वर की महानता के समीप पहुँचना, घनिष्ठ बनना। अर्थात् अपने चिंतन और चरित्र में ईश्वरीय विशेषताओं को भरते बढ़ाते चले जाना। ईश्वर विराट् है। उसकी उपस्थिति प्राणिमात्र में, कण-कण में अनुभव करते हुए चेतना के प्रति सद्भाव रखना, सद् व्यवहार करना साथ ही पदाथ संपदा को ईश्वर की अमानत मानकर उसका श्रेष्ठतम सदुपयोग करना यही हैं वे प्रतिक्रियाएँ जो उपासक के अंतःक्षेत्र में स्वाभाविक रूप से उभरनी चाहिए। आस्तिकता के दो प्रतिफल हैं, चरित्रनिष्ठा और समाजनिष्ठा। सच्चे ईश्वर विश्वासी को उदात्त और सदैव बनना ही चाहिए। आत्मा के स्तर को परमात्मा जैसा ऊँचा उठा, क्षुद्रता को महानता में परिवर्तित करना, उपासना की भाव-भरी प्रेरणा है। जिसे यह लाभ मिलेगा वह पुरुष से पुरुषोत्तम बनकर रहेगा। सच्ची आस्तिकता के अभाव में लोग पूजा के फलस्वरूप मनोकामना पूरी कराने की आस लगाए रहते हैं और छुटपुट क्रियाकृत्यों के बदले पाप दंड से बच निकलने एवं सस्ते मोल में ईश्वर की अनुकंपा के चमत्कारी लाभ पाने की कल्पना करते रहते हैं।

भावनात्मक पवित्रता बनाए रखने के लिए आत्मोत्कर्ष की दिशा में अग्रसर होने के लिए, उपासना का क्रियाकृत्य करने के लिए परिवार के हर सदस्य को प्रेरित किया जाना चाहिए। भले ही वह न्यूनतम ही क्यों न हो? इस संदर्भ में नमन-वंदन सबसे छोटा और सरल कार्यक्रम है। गायत्री युग शक्ति है, उसी का प्रज्ञावतरण सामयिक समस्याओं का समाधान और उज्ज्वल भविष्य का सूत्र-संचालन करेगा। गायत्री की ऋतुभरा प्रज्ञा सार्वभौम और सार्वजनीन है। सद्विचारणा और

सद्भावना की अधिष्ठात्री गायत्री माता की अभ्यर्थना ही युग साधना है। इसके लिए समस्त परिवारों को अपने घर के सभी परिजनों को अभ्यस्त करना चाहिए। जो अधिक समय गायत्री उपासना कर सकें वे वैसा करें, अन्यथा इतना तो किया ही जाना चाहिए कि नित्यकर्म के उपरांत घर का हर सदस्य प्रतिष्ठापित गायत्री माता के चित्र के सम्मुख हाथ जोड़कर आँख बंद करके मानसिक जप और आत्म संस्थान में प्रकाश के अवतरण का ध्यान करे। इसके बाद ही भोजन एवं अन्य कर्म किए जाएँ।

प्रतिमा स्थापित की जाए, पर उससे व्यर्थ की अपेक्षा न की जाए। नहीं तो वह एक अंधविश्वास बन जाता है, जो व्यक्ति को श्रम से विमुख कर भाग्यवादी बना देता है।

परिवर्तनवेलायां युगस्यात्र नवस्य च।

सृजनाय गृहस्थस्य योगदानं समस्य तु ॥ ७७ ॥

अंशदानमपीहस्यान्नियमितं सुनियोजितम्।

नरैर्ज्ञानघटः स्थाप्यः स्त्रीभिर्धर्मघटः पृथक् ॥ ७८ ॥

सत्प्रयोजनहेतोश्च कर्तव्यस्य धिया तु यत्।

नित्यं नियमरूपेण विहितं महदेव तु ॥ ७९ ॥

अल्पमप्युच्यते पुण्यदायकं महदेव तु।

सुखशांतिप्रदा चास्य परिणतिः सोभयत्र तु ॥ ८० ॥

टीका—युग परिवर्तन की इस पुनीत वेला में नव सृजन के लिए हर सद् गृहस्थ का योगदान, अंशदान नियमित रूप से नियोजित होते रहना चाहिए। इसके लिए पुरुष ज्ञान घट की और नारियाँ धर्मघट की स्थापना करें। कर्तव्य भाव से सत्प्रयोजन के लिए नित्य नियमपूर्वक दिया गया थोड़ा सा अनुदान भी महान् पुण्यफल दायक होता और उसके परिणाम इस लोक और परलोक में सुख-शांति प्रदान करने वाले होते हैं ॥ ७७-८० ॥

साधना, स्वाध्याय और सत्संग हेतु प्रेरणा उभारने के बाद महर्षि हर सद्गृहस्थ को निर्देश देते हैं कि उन्हें अपनी उदार परमार्थ परायणता को विकसित कर योगदान, श्रम, समय प्रभाव, ज्ञान एवं उपार्जन का एक अंश समाज के उत्थान के लिए सेवा रूप से नियोजित करना चाहिए, क्योंकि समाज के अनुदानों से ही मनुष्य आगे बढ़ पाता है सुख-सुविधाएँ पाता है। यदि लोग समाज के कोष से लेते ही रहें कुछ दें नहीं ऋण चुकाए नहीं तो भंडार खाली हो जाएगा। सभ्य-सुसंस्कृत लोग पिछड़ों को सुशिक्षित करने, सभ्य बनाने, ऊँचा उठाने आगे बढ़ाने का प्रयत्न न करें, तो वह परिवार समाज और राष्ट्र रसातल की ओर खिसकने लगेगा। अतः आत्मकल्याण एवं लोकमंगल के लिए सेवा साधना का क्रम अपनाना नितांत आवश्यक है।

पुण्य परमार्थ, लोकमंगल, जनकल्याण, समाजहित आदि

सेवा-साधना के ही पर्यायवाची नाम हैं और इसी में मनुष्य जीवन की सार्थकता है। जिन व्यक्तियों ने भी इस पद्धति से जीवन सार्थकता की साधना की मनुष्य और समाज का स्तर ऊँचा उठाने के लिए योगदान दिया, सामाजिक सुख-शांति में बाधक तत्वों का उन्मूलन करने के लिए प्रयत्न किए, समाज ने उन्हें सर आँखों पर उठा लिया। महापुरुषों के रूप में आज हम उन्हीं नर-रत्नों का स्मरण और वंदन करते हैं।

महर्षि व्यास ने महाभारत में कहा है जीवनः सफलं तस्य य परार्थोद्यतः सदा अर्थात् उसी का जीवन सफल है, जो सेवा में परोपकार में सदैव प्रवृत्त रहता है। परोपकारः पुण्याय परोपकार ही पुण्य का जनक है।

इतना ही नहीं गोस्वामी तुलसीदास जी ने तो यहाँ तक कह दिया है

परहित सरिस धर्म नहीं भाई।

परहित बस जिनके मन माँही।

तिन कहूँ जग दुर्लभ कछु नाही ॥

सेवा के अनेकों मार्ग हैं। इनमें श्रमदान, अंशदान, समयदान और ज्ञानदान प्रमुख हैं। श्रेष्ठ सत्कर्मों के लिए सामान्य जनों का श्रमदान, नवनिर्माण के प्रयोजनों पीड़ा निवारण के सत्प्रयोजनों के लिए वरिष्ठों और समर्थों का अंशदान साधनदान और समयदान तथा मनुष्यों की पतनोन्मुखी अधोगामी प्रवृत्तियों को परिष्कृत करके उन्हें उत्कृष्टवादी बनाने के लिए विभूतिवानों, प्रतिभावानों का ज्ञानदान जिसके पास जो विभूति हो, वह उसे ही उसके लिए नियोजित करते रहने का नियमित क्रम बना लें भले ही वह न्यूनतम एवं आंशिक ही क्यों न हो, तो इतना बड़ा कार्य हो सकता है कि इतिहास में उसे स्वर्णाक्षरों से लिखा जा सके।

उपदेशं तु धौम्यस्य श्रुत्वाऽद्यतनमद्भुतम्।

अन्वभूवन् समे तत्र महतां पुरुषाः स्वयम् ॥ ८१ ॥

क्रीणन्तीह श्रमेणाऽथ लग्नभावतयाऽपि च।

निर्मूल्यं नैव चायाति सोपहार इव स्वयम् ॥ ८२ ॥

सुसंस्कृतं विधातुं च कुटुम्बं क्रियते यदि।

धनांशकालयोर्दानं मनोयोगस्य संस्थितिः ॥ ८३ ॥

पण्यता हानिदा नेयं चिंत्यमेतन्मुहुर्महुः।

स्वीकर्तव्यमिदं सर्वं स्वर्गमानेतुमत्र हि ॥ ८४ ॥

स्वाध्यायस्यांशदानस्य साधनाया अथापि च।

सत्संगस्यानुदानं च संततं कर्तुमेव तैः ॥ ८५ ॥

निश्चितं परिवारस्य कर्तुं चाऽपि परंपराम्।

संकल्पपूर्वकं श्रद्धापूर्वकं भावनामयैः ॥ ८६ ॥

समापनं च कुर्वन्तः सर्वे कार्यक्रमं ततः।

प्रसन्नाः प्रययुर्वासानभिनंदनपूर्वकम् ॥ ८७ ॥

टीका—आज का उपदेश सुनकर सभी ने अनुभव किया कि महानता श्रम व लगन से खरीदी जाती है। किसी को भी बिना मूल्य उपहार की तरह नहीं मिलती। परिवार को सुसंस्कृत बनाने के लिए यदि थोड़ा समयदान, मनोयोग और अंशदान लगाना पड़ता है, तो यह किसी भी प्रकार घाटे का सौदा नहीं है। यह बार-बार सोचना चाहिए तभी स्वर्ग, पृथ्वी पर लाया जा सकता है। साधना, स्वाध्याय, सत्संग और अंशदान के नियमित अनुदान प्रस्तुत करने और उसे परिवार की परंपरा बनाने के लिए सभी ने संकल्पपूर्वक श्रद्धापूर्वक भावनामय होकर निश्चय किया। समापन कार्यक्रम पूरा करते हुए अभिनंदनपूर्वक सभी लोग प्रसन्नचित्त से विदा हो गए ॥ ८१-८७ ॥

॥ इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः, युगदर्शनयुगसाधनाप्रकटीकरणयोः,

श्री धौम्य ऋषि प्रतिपादिते सुसंस्कारिता संबर्द्धन, इति प्रकरणो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥